ज्ञान तत्व अंक 144

(क) लेख, संविधान संशोधन क्यो ?

(ख) मोहम्मद शफी आजाद ग्राम शाहपुर, पो0 खिझनी, बाराबंकी, उत्तर प्रदेश। का प्रश्न और मेरा विस्तृत उत्तर ।

(क) संविधान संशोधन क्यों ?

चरित्र के आधार पर व्यक्ति तीन प्रकार के होते हैं (1) सामाजिक (2) असामाजिक (3) समाज विरोधी। जब तक समाज विरोधी तत्व खतरनाक बिन्दु तक मजबूत नहीं होते तब तक सामान्य काल माना जाता है, किन्तु जब ऐसे अपराधी तत्व खतरनाक सीमा से भी आगे चले जाते हैं तब आपातकाल की परिस्थितियाँ मान ली जाती हैं। सामान्यकाल में चरित्र निर्माण की अपेक्षा चरित्र सुरक्षा प्रावधान लागू होने लगते हैं। ऐसे समय में चरित्र निर्माण की पूरी तरह शासन मुक्त विषय माना जाता है और शासन को सुरक्षा व न्याय तक सीमित कर दिया जाता है।

शोसन व्यव्यस्था दो प्रकार की होती है। (1) तानाशाही (2) लोकतंत्र। दोनों के अलग–अलग गुणदोष होते हैं। तानाशाही में कुव्यवस्था भी हो सकती है और सुव्यवस्था भी किन्तु अव्यवस्था नहीं हो सकती। लोकतंत्र में सुव्यवस्था या कुव्यवस्था नहीं हो सकती। सिर्फ अव्यवस्था ही हो सकती हैं, किन्तु तानाशाही का बहुत बड़ा दोष यह होता है कि उसमें संशोधन के सभी मार्ग बन्द हो जाते हैं जबकि लोकतंत्र में संशोधन के सभी मार्ग खुले रहते हैं। इसलिए तानाशाही में व्यवस्थात्मक गुणों के होते हुए भी तानाशाही की अपेंक्षा लोकतंत्र को अच्छा माना जाता है।

लोकतंत्र में संविधान का शासन होता है इसका अर्थ यह हुआ कि शासन का नहीं। यदि शासन अनियंत्रित होता है तो उस पर नियंत्रण के प्रावधन संवैधानिक ही हो सकते हैं, अन्य नहीं। इसलिए संविधान का बहुत महत्व होता है। वर्तमान संविधान राजनेताओं अपराधियों तथा पूँजीपतियों के अनियंत्रित शक्ति विस्तार में सहायक है, बाधक नहीं। इसलिए भारत का हर राजनीतिज्ञ, पूँजीपति तथा अपराधी भारत की सम्पूर्ण अव्यवस्था का दोषी समाज को मानता है संविधान को नही जबकि सच्चाई बिल्कुल उलट होती है।

पूरी दुनिया में संविधान के परिभाषा एक ही होती है'' शासन के अधिकतम तथा समाज के न्यूनतम अधिकारों की सीमांए बताने वाला दस्तावेज ''इस परिभाषा में''सीमाएँ '' शब्द बहुत महत्वपूर्ण होता हैं किन्तु भारतीय संविधान की संरचना में सीमाएँ शब्द नहीं माना गया जिसका अर्थ हुआ कि शासन को अधिकतम और समाज को न्यूनतम अधिकारों के रूप में बंटवारा हुआ। इसके आधार पर राज्य ने समाज को सिर्फ वोट देने का अधिकार सौंपकर बाकी सभी अधिकार संसद के माध्यम से अपने पास समेट लिए। संविधान का स्वरूप समज और राज्य के बीच द्विपक्षीय समझौते के रूप में होना चाहिए किन्तु सभी मर्यादाओं को भूलकर संविधान निर्माताओं ने संविधान संशोधन तक के अबाध अधिकार एकपक्षीय तरीके से संसद या विधानसभाओं कों सौंप दिये और समाज की भूमिका शून्य कर दी। लोकतांत्रिक जीवन पद्धति वाले देशों ने समाज को संविधान संशोधन से अलग कर दिया। इस तरह संविधान का '' पालन और संशोधन '' दोनों ही कार्य एक ही ईकाई के पास इकट्ठा होने से उच्श्रृंखलता के अवसर पैदा हुए।

शासन की आदर्श परिभाषा '' न्यायपालिका, विधायिका और कार्यपालिका के समन्वित स्वरूप '' के रूप में मानी जाती हैं इसमें इन तीनों का समन्वय आवश्यक होता है। ये एक दूसरे के पूरक होते हैं। भारतीय संविधान का कुछ ऐसा स्वरूप बना कि न्यायाधीशों ने स्वयं को शासन का न्यायाधीश मानना शुरूकर दिया और विधायिका ने स्वयं को शासन मान लिया। दोनों भूल गये कि न्यायपालिका का स्वरूप न्यायदाता का न होकर justice according to Low तक सीमित है और विधायिका का स्वरूप भी शासक का न होकर Low according to Justice तक ही सीमित है। दोनों ने प्रचलित अर्थों के आधार पर ऐसा भ्रम पैदा किया कि दोनों एक दूसरे के पूरक न रहकर प्रतिस्पर्धी के रूप में हो गये। आज स्थिति यह है कि दोनों ही समाज की कीमत पर स्वयं को सर्वोच्च स्थापित करने में लगे हैं और संविधान स्वयं को सर्वोच्च सिद्ध करने में लगातार पिछड़ रहा है।

दुनिया में अभी तीन प्रकार की प्रणालियाँ है (1) पश्चिमी देशों की जहाँ व्यक्ति को राज्य धर्म और समाज की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली स्वरूप प्राप्त है। (2) साम्यवादी देशों की जहाँ राज्य को धर्म व्यक्ति और समाज की अपेंक्षा अधिक शक्तिसम्पन्न स्वरूप प्राप्त है। (3) इस्लामिक देशों की जहाँ धर्म को राज्य, समाज और व्यक्ति की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण भूमिका प्राप्त है। भारत की प्राचीन संस्कुति में समाज को धर्म, राज्य, व्यक्ति से अधिक महत्वपूर्ण और शक्तिशाली माना जाता था। वर्तमान भारतीय संविधान के स्वरूप में पश्चिम का व्यक्ति स्वातंत्रय साम्यवादियों की शक्ति सम्पन्न राज्य व्यवस्था और इस्लाम के धर्म सर्वोच्च का तो समनवय किया गया है किन्तु उसमें से समाज व्यवस्था को बाहर कर दिया गया। हमारे भारतीय संविधान में परिवार व्यवस्था, ग्राम व्यवस्था को दूध की मक्खी के समान किनारे करने का ही परिणाम है कि परिवार व्यवस्था भी टूटती जा रही है और समाज व्यवस्था भी किन्तु साम्प्रदायिकता तथा वर्ग संघर्ष का विस्तार होता जा रहा है। भारतीय संस्कृति से दूर वाले भारतीय समाज व्यवस्था को समझते ही नहीं किन्तु भारतीय सस्कृति की आवाज उठाने वाले भी धर्म और समाज का अन्तर न समझने के कारण परिवार व्यवस्था ग्राम व्यवस्था के स्थान पर धार्मिक रीति–रिवाजों को ही व्यवस्था को साथ जोड़कर देखते रहते हैं।

भारतीय संविधान में कुछ मौलिक कमजोरियां है (1) किसी भी संविधान की यह विशेषता आवश्यक है कि उसमें कम से कम Interpretation हों। भारतीय संवधान की अधिकांश धाराएँ द्विअर्थी हैं। हाईकोर्ट और सुप्रीम कोर्ट के अर्थ अलग–अलग होते हैं। सुप्रीम कोर्ट की ही फुल बेंच कोई तीसरा अर्थ निकाल लेती हैं संदेह होता है कि कोई और ऊपरी बेंच होती तो पता नहीं क्या अर्थ होता?

(2) संविधान का संदेश बिल्कुल स्पष्ट होना चाहिए। भारतीय संविधान ऐसा बना जिसकी अनेक धाराएँ अस्पष्ट संदेश देती हैं। जैसे संविधान में लिखा गया कि धर्म, जाति, क्षेत्र, और लिंग के आधार पर काई भेद न करके सबके साथ समान व्यवहार किया जाएगा किन्तु अल्पसंख्यकों, महिलाओं, पिछड़ों, हरिजनों अदिवासियों को विशेष सुविधाएँ दी जा सकती हैं। प्रश्न उठता है कि जब किन्तु के बाद के अपवाद में नब्बे प्रतिशत आबादी शामिल है तो ऊपर समानता पर इतना जोर क्यों दिया गया। किन्तु परन्तु लगाकर संविधान के संदेश को कई जगह भ्रमित किया गया जो एक कमजोरी है।

(3) संविधान संशोधन का अन्तिम अधिकार संसद को देने से राजनैतिक वर्ग का शक्तिशाली होना स्वभाविक था जो स्पष्ट दिख रहा है।

(4) न्याय और सुरक्षा को सर्वोच्च प्राथमिकता देनी चाहिए थी किन्तु पश्चिमी देशों का अन्धानुकरण करने से न्याय और सुरक्षा की अपेक्षा जनकल्याणकारी कार्यों को प्राथमिकता दी गई।

(5) व्यक्ति परिवार और गाफंव को व्यवस्था की ईकाई न मानकर धर्म, जाति भाषा लिंग के आधार पर वर्ग निर्माण को प्रोत्साहित किया गया।

उन कमजोरियों ने भारत की परिवार व्यवस्था ग्राम व्यवस्था को भी तोड़ा और समाज व्यवस्था को भी तोड़ा। हमारी परिवार व्यवस्था, ग्राम व्यवस्था और समाज व्यवस्था को तोड़ने वाली शक्तियों को मजबूत करने के सभी अवसर भारतीय संविधान में उपलब्ध हैं।

संविधान के सम्बंध में कुछ प्रश्न भी उठते रहते हैं–

(1) भारत में निन्यानवे प्रतिशत लोंगों की आदत बन गई है कि ये संविधान को दोषी न मानकर समाज को दोषी मानते रहते हैं। राजनीतिज्ञों का तो इसमें सहज स्वार्थ है किन्तु सामाजिक–धार्मिक लोगों की भी ऐसी ही आदत हो गई है। प्रश्न उठता है कि यदि समाज महत्वपूर्ण है तो समाज के सामाजिक मामलों में राज्य का इतना हस्तक्षेप क्यों? यदि समाज व्यवस्था का पूरा दायित्व संवैधानिक व्यवस्था में ही है तो उसकी सफलता असफलता का श्रेय स्वीकार करने में हिचक क्यों?

(2) आमतौर पर कहा जाता है कि लोग पालन ही ठीक से नहीं करते तो संविधान क्या करेगा। प्रश्न उठता है कि संविधान की आवश्यकता क्यों है? मेरे विचार में धर्म समाज और राज्य की भिन्न–भिन्न भूमिकाएँ होती हैं। धर्म व्यक्ति को मार्ग दर्शन देता है, समाज अनुशासित करता है और समाज शासित करता है राज्य या संविधान उन लोगों के लिए नहीं बना है जो स्वयं ही ठीक है बल्कि, उन लोगों को ठीक चलने के लिए नहीं बना है जो स्वयं ही ठीक हैं बल्कि, उन लोगों को ठीक चलने के लिए बाध्य करने हेतु बना है जो ठीक से नहीं चलते हैं। यदि लोग ठीक तो राज्य की जरूरत ही क्या है? पागलखाने का डाक्टर यह कहकर नहीं बच सकता कि रोगी उसकी बात समझता ही नहीं।

(3) तीसरी बात यह कही जाती है कि राजनीतिज्ञ भी तो समाज से ही आते हैं। प्रश्न उठता है कि यदि राजनीतिज्ञ समाज से अधिक योग्यता प्राप्त नहीं है तो उन्हें विशेष अधिकार क्यों? विशेषाधिकार प्राप्त लोग अपनी तुलना समाज से नहीं कर सकते।

भारतीय संविधान पर पूरी चर्चा के बाद हम कह सकते हैं कि भारतीय संविधान लोकतांत्रिक विश्व के संविधानों में से सबसे रद्दी संविधान है। यह भारत की सम्पूर्ण व्यवस्था को ठीक दिशा देने में विफल तो है ही, बल्कि अनेक समस्याएँ उत्पन्न करने के विष बीज भी भारतीय संविधान में है। संविधान भारत में अच्छे लोगों की सुरक्षा और बुरे लोगों पर अंकुश के स्थान पर अच्छे लोंगो पर अंकश और बुरे लोगों को उच्श्रृंखल होने के अवसर पैदा कर रहा है। अब समय आ गया है कि भारतीय संविधान की व्यापक समीक्षा करके उसमें संशोधन का प्रयत्न होना चाहिए।

लोकतंत्र के पहरेदार नरेन्द्र मोदी और बुद्धदेव भट्टाचार्य लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था तानाशाही और अव्यवस्था के बीच की लुका छिपी का खेल होता है। पाकिस्तान में यह बिल्कुल स्पष्ट दिख रहा है जहॉ तानाशाही व्यवस्था के बाद अब लोकतंत्र आने के लिए आतुर है और बंगाल देश में भी स्पष्ट दिखता है जहॉ अव्यवस्था के बाद तानाशाही आ चुकी है। लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था वाले देशों में भारत एकमात्र ऐसा देश है जहॉ लोकतंत्र की जड़े बहुत गहराई तक गई हुई है अर्थात् यहॉ के नागरिकों में किसी तक अव्यवस्था सहन कर सकने की क्षमता मौजूद है।

ऐसी अव्यवस्था के वातावरण में बंगाल के मुख्यमंत्री बुद्धदेव भट्टाचार्य को कठोर फैसला लेने को बाध्य होना पड़ा और लोकतंत्र के सभी आदर्श मानदण्डों को किनारे करते हुए नंदीग्राम पर नियंत्रण के लिए अपनी राजनैतिक सेना को आक्रमण की स्वीकृति देनी पड़ी। पूरी तरह से युद्ध के समान योजना बनाकर मार्क्सवादी कार्यकर्ताओं ने नन्दीग्राम के उस क्षेत्र पर आक्रमण किया। उन्होंने वहॉ उन सब प्रकार के अत्याचारों अनाचारों का उपयोग किया जैसा युद्ध के समय विरोधी सेना के साथ होता रहा है। हत्याएं हुई घर जलाये गये, यहॉ तक कि महिलाओं तक के गुप्तांगों में बहुत बहादुरी से लोहे की छड़े डालकर घुमाया गया और उन्हें शान्त किया गया। इन लोगों ने

अशासकीय कर्फ्यू भी लगाया और बाहर की दुनिया से मीडिया तक को अलग कर दिया गया। बाहर से प्रवेश करने वाले राष्ट्रीय स्तर के नेताओं तक को अन्दर जाने से बलपूर्वक रोक दिया गया। यहॉ तक कि नन्दीग्राम में विपक्ष द्वारा हार मान लेने के बाद भी कुछ देर तक यह ताण्डव रहा तब तक जारी जब तक आक्रमणकारी संतुष्ट नहीं हुए कि विपक्ष अब सदा–सदा के लिए परास्त हो चुका है।

इस आक्रमण के पूर्व नन्दीग्राम में विपक्ष का भी रिकार्ड इससे अच्छा नहीं था। आठ माह से वहॉ के एक गुट ने बलपूर्वक दूसरे गुट को बाहर कर दिया था। उन लोगों ने लोकतांत्रिक व्यवस्था को अस्वीकार करके अपनी तानाशाही स्थापित कर ली थी। लगभग उसी प्रणाली के अत्याचारों का सहारा लिया जा रहा था जैसा बुद्धदेव भट्टाचार्य जी की सेना ने लिया। विपक्षी विचार के लोगों का प्रवेश वर्जित घोषित कर दिया गया। यहॉ तक कि पुलिस तक को अपने क्षेत्र में घुसने से रोक दिया गया था। एक प्रकार से उस क्षेत्र को लोकतांत्रिक ढंग से चुनी हुई सरकार के आधिपत्य से मुक्त कराकर आठ माह तक अपने आधिपत्य में रखा गया जिसे मुक्त कराने के लिए बुद्धदेव भट्टाचार्य जी को अलोकतांत्रिक तरीकों का सहारा लेना पड़ा।

सीधा सा प्रश्न है कि बुद्धदेव जी को क्या करना चाहिए था? उनके इस कदम से उनकी व्यक्तिगत बदनामी भी हुई है और राजनीतिक भी। उन्हें न्यायपालिका के समक्ष भी उत्तर देना होगा और कार्यपालिका के समक्ष भी। कोई लोकतांत्रिक सरकार लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में इस तरह अलोकतांत्रिक तरीके से विरोध को कुचलने का उपक्रम करें, यह भारतीय लोकतंत्र की पहली घटना कही जा सकती है। इसके पूर्व गुजरात के मुख्यमंत्री नरेन्द्र मोदी जी ने भी कुछ ऐसा ही मिलता–जुलता प्रयोग किया था। दोनों के प्रयोगों में एक बात की तो समानता देखी जा सकती है कि दोनों में अमानवीय अत्याचार हुए और दोनों में अपने कैडर को अलोकतांत्रिक छूट दी गईं। इतना अन्तर अवश्य है कि दोनों की परिस्थितियां भी अलग–अलग थीं और व्यक्तिगत स्वभाव भी। मोदी के कार्य में प्रतिक्रिया अधिक थी मजबूरी कम जबकि बुद्धदेव जी के निर्णय में मजबूरी अधिक थी प्रतिक्रिया कम, क्योंकि मोदी जी का विरोध घोषित विरोधियों से था और बुद्धदेव जी का घोषित समर्थकों से। मोदी जी ने जो कुछ किया उसमें कूटनीति का अधिक उपयोग था किन्तु बुद्धदेव जी की कार्यप्रणाली में कूटनीति न होकर स्पष्टता थी। यही कारण है।

नन्दीग्राम की अपेक्षा गुजरात के मुसलमानों पर कई गुना अधिक अत्याचार होने के बाद भी गुजरात में मोदी जी ने अपने कार्यकर्ताओं की प्रत्यक्ष प्रशंसा से परहेज किया जबकि बुद्धदेव जी ने लोकतंत्र का वह झीना परदा भी उठा दिया और अपने कार्यकर्ताओं की प्रशंसा करनी शुरू कर दी। एक अन्तर और था कि गुजरात घटनाएं अनियोजित होने से अव्यवस्थित थी जबकि नंदीग्राम की घटनाएं महिनों तक सोच–समझकर तथा योजना बनाकर अंजाम दी गई। यदि हम परिणाम का आकलन करें तो कुल मिलाकर मोदी जी की छवि एक सफल तानाशाह प्रशासक के रूप में उभर रही है और बुद्धदेव जी की एक पथभ्रष्ट वामपंथी की। क्योंकि वामपंथ स्वयं में एक अंतर्राष्ट्रीय विचारधारा है। उसका एक पृथक ढांचा भी है और पृथक पहचान भी। बुद्धदेव जी जिस लीक पर चल रहे हैं वह पूरी तरह वामपंथी विचारधारा का संशोधित स्वरूप है। नंदीग्राम का पूरा घटनाक्रम रूढ़िवादी वामपंथ और संशोधित वामपंथ के बीच वैचारिक संघर्श के रूप में आया है जिसका प्रत्यक्ष स्वरूप यह हिंसक संघर्ष है। रूढ़िवादी वामपंथी इस संशोधित रूप को स्वीकार नहीं कर सकते। इसलिए उनकी नजर में बुद्धदेव का स्वरूप पथभ्रष्ट वामपंथी का ही है। यद्यपि मेरे व्यक्तिगत विचार में बुद्धदेव जी दया के पात्र है मोदी जी पात्र नहीं है।

मोदी जी और बुद्धदेव जी की सारी तुलना के बाद भी यह तो स्पष्ट ही दिखता है कि इस तरह योजना बनाकर, मुख्यमंत्री की प्रत्यक्ष सहमति से अलोकतांत्रिक संघर्ष भारत में पहली बार हुआ है। मैं इस घटनाक्रम में बुद्धदेवजी की निन्दा तो नहीं कर सकता क्योंकि बंगलादेश पाकिस्तान, नेपाल, अफगानिस्तान, इराक आदि देशों में लोकतांत्रिक शासन प्रणाली की पहचान तानाशाही और अव्यवस्था के बीच नये–नये प्रयोगों की तो स्पष्ट ही दिख रही है किन्तु भारत में वह गति इतनी स्पष्ट नहीं दिख रही थी जितनी इस घटना से स्पष्ट हुई है। यह घटना कोई सामान्य घटना तो हैं नहीं। कोई सरकार व्यवस्था को बनाये रखने के लिए असंवैधानिक अलोकतांत्रिक तरीकों के उपयोग के लिए मजबूर हो जावे यह गंभीर विचार मंथन का विषय है। चिन्तन का विषय यह नहीं कि बुद्धदेव जी ने गलत किया या सहीं। चिन्तन का मुख्य विषय तो यह है कि यदि लोकतंत्र की रक्षा के लिए तानाशाही मार्ग का अनुकरण आवश्यक ही है तो फिर भारत में वर्तमान लोकतांत्रिक प्रणाली का विकल्प क्या है। स्वाभाविक ही है कि हम अव्यवस्था की ओर लगातार बढ़ रहे हैं और अव्यवस्था से निपटने का सबसे सहज उपाय है तानाशाही। किन्तु तानाशाही अव्यवस्था का समाधान तो हो सकती है किन्तु लोकतंत्र का समाधान नहीं हो सकती। हमें यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि लोकतांत्रिक जीवन पद्धति या लोक स्वराज्य के बिना लोकतांत्रिक शासन पद्धति सफल हो ही नहीं सकती। यदि ऐसा प्रयत्न होगा तो लोकतांत्रिक शासन पद्धति को तानाशाही का सहारा लेना होगा ही। गुजरात के टकराव में संलग्न दोनों धड़ो (मुसलमान और संघ परिवार) का कभी भी अकेन्द्रित शासन व्यवस्था पर विश्वास नहीं रहा। दोनों को ही अहिंसक समाज व्यवस्था पर भी विश्वास नहीं। यदि हम बंगाल की बात करें तो वहॉ संघर्षरत दोनों ही पक्ष केन्द्रित शासन व्यवस्था और हिंसा को हथियार के रूप में मानने वालों में गुजरात से भी कई गुना आगे चलने वाले है। वामपंथियों को शेर की सवारी करने में बहुत मजा आता है। सम्पूर्ण भारत में वर्ग संघर्ष के नाम पर हिंसा का प्रत्यक्ष समर्थन करने में ये सबसें आगे–आगे रहते हैं। अब भूखा शेर उन्हीं पर झपट मारने के

प्रयास में है तो उन्हें लोकतंत्र की याद आ रही है। समाज को चाहिए कि वह ऐसे मामलों में सोच समझ कर और समाधान मूलक प्रतिक्रिया दें।

नंदीग्राम को आधार बनाकर उठने वाली प्रतिक्रियाओं की हम चर्चा करेंगें, भाजपा की तो इस सम्बन्ध में चर्चा ही करना व्यर्थ है, क्योंकि वे तो स्वाभाविक रूप से गुजरात नरसंहार में मार्क्सवादियों की सक्रियता से जले–भुने बैठे है। मार्क्वादियों के साथी वामपंथी पलों की बोलती बंद है। किन्तु इनके वैचारिक बुद्धिजीवीं मित्र अवश्य ही कुछ सक्रिय है। देश के कुछ वामपंथ द्वारा स्थापित इन प्रतिबद्ध बुद्धिजीवियों के विरोध में न तो इस बात का उत्तर है कि बुद्धदेव जी को क्या करना चाहिए था, न ही इस बात का उत्तर है कि भविष्य में इस बात का समाधान कैसे होगा जब लोकतंत्र की अव्यवस्था से निपटने के लिए अलोकतांत्रिक बल प्रयोग आवश्यक दिखने लगे। समाज में अपनी उपस्थिति दर्ज कराने के लिए खाली बैठे बुद्धिजीवियों के प्रदर्शन को हम क्या और कितना महत्व दे यह समझ में नहीं आ रहा है। वर्षो तक मोदी और उनकी प्रणाली को गाली देने वाले बुद्धिजीवी अपनी झेप मिटाने के उद्देश्य से बुद्धदेव जी के समर्थन या विरोध में सड़कों पर उतर पड़े यह तो भिन्न बात है, अन्यथा उनके प्रदर्शन में कोई गंभीर बात नहीं दिखी। इन बुद्धिजीवियों के प्रदर्शनों में यह बैचेनी अवश्य दिखी कि जिस वृक्ष से लिपटकर लता लगातार ऊपर चढ़ रही थी उस वृक्ष की जड़ों पर ही संकट आया हुआ है। और यह उन बुद्धिजीवियों के लिए चिन्ता का विषय है। मेरे विचार में न गुजरात नरसंहार चिन्ता का विषय है न नंदीग्राम बल प्रयोग! यह विषय चिन्ता का न होकर चिन्तन का है।

पश्चिम के देश बड़ी चालाकी से अपने देशों की जीवन पद्धति में लोकतंत्र के नाम पर लोकस्वराज्य प्रणाली का विकास कर रहे हैं जबकि अन्य देशों में वे लोकस्वराज्य प्रणाली का विकास कर रहे हैं जबकि अन्य देशों में वे लोकतांत्रिक शासन पद्धति थोपकर उनकी समूची सामाजिक व्यवस्था को अव्यवस्था और तानाशाही के बीच झूलते रहने का मार्ग दिखा रहे हैं। पश्चिम के देश यह चाहते ही नहीं कि कोई और देश लोकस्वराज्य की राह पर बढ़कर जीवन पद्धति में लोकतंत्र को शामिल करें। इन देशों ने जनकल्याणकारी राज्य व्यवस्था को लोकतंत्र की परिभाषा समझा दी है और हमारे भारत के पश्चिम में पढ़े विद्वान उसी परिभाषा को दिन–रात रटते रहते हैं। इतने गंभीर दुष्परिणामों के बाद भी ये विद्वान घटनाओं के पक्ष विपक्ष में प्रतिक्रिया तक सीमित है जबकि वर्तमान समय इससे आगे बढ़कर सोचने का है। हम सतही बहस में उलझने की बजाय इस बात पर सोचें कि क्या लोकनियुक्त तंत्र रूपी लोकतंत्र का विकल्प लोक नियंत्रित तंत्र या लोक स्वराज्य हो सकता है। यदि हॉ तो उसका स्वरूप क्या हो और कैसे हो? यदि नहीं तो लोकतंत्र के विकल्प के रूप में बढ़ती तानाशाही का समाधान क्या है? मुझे आशा है कि समाज में इस दिशा में एक सार्थक बहस छिड़ेगी और संभावित खतरा दूर करने का कोई उचित मार्ग निकल सकेगा।

पत्रोत्तर

गांधी अपने जीवन पर्यन्त विवादों से घिरे रहे और आज भी घिरे हैं। समाज में एक वर्ग ऐसा है जो किसी भी स्थिति में गांधी को साम्प्रदायिक सिद्ध करने पर आमादा है तो एक दूसरा वर्ग ऐसा भी है जो किसी भी स्थिति में अपना व्यवसाय जारी रखने के लिए गांधी शब्द का उपयोग करने का एकाधिकार बनाकर रखने का प्रयास करता है। इन तीनों ही वर्गों की राजनैतिक महत्वाकांक्षी जगजाहिर है। गांधी समर्थकों के तो पत्र आते ही रहते हैं। किन्तु गांधी को साम्प्रदायिक सिद्ध करने वाले दो पत्र मुझे अभी–अभी प्राप्त हुए हैं। इन पत्रों को इस अंक में प्रकाशित कर रहे हैं। इन पत्रों के उत्तर समीक्षा सहित अगले अंक में लिखूँगा।

(ख) मोहम्मद शफी आजाद ग्राम शाहपुर, पो0 खिझनी, बाराबंकी, उत्तर प्रदेश।

सादर नमस्ते! आप द्वारा प्रेषित ज्ञानतत्व के अंक मिलते रहते हैं, अंक 139 भी प्राप्त हुआ, धन्यवाद।

''धार्मिक मान्यताओं से प्रेरित आतंकवाद'' के विषय पर आचार्य पंकज जी के चिन्तन का अवलोकन किया, उनका वह प्रश्न कि इस्लाम में ऐसा क्या है? जो इसे हर अन्य मतावलम्बियों के विरूद्ध हथियार उठाने के लिए प्रेरित करने के साथ निरीह जनता और अबोध बच्चों के साथ अमानवीय हिंसा करने की छूट, सलाह और निर्देश देता है। इस विषय पर मेरी अपनी राय है कि मजहबे इस्लाम के शुरूआती दौर में जो तलवार अपनी हिफाजत के लिए उठायी गयी थी वह दोबारा म्यान में वापस न जा सकी। इस तलवार ने खुल्फा–राशिदीन में से जो पैगम्बरे इस्लाम के बहुत ही अजीज व करीबी थे जिनकों इस्लाम में आला मुकाम हासिल था उनको भी बेदर्दी के साथ जामे शहादत पिला दिया। इस तलवार ने गैर मतावलम्बियों को ही नहीं, बल्कि इस्लाम के प्रवर्तक जनाब मुहम्मद के चहीते चौथे खलीफा हजरत अली के साहबजादे हजरत इमाम हुसैन को उनके खानदान के मासूम बच्चों और उम्रदरराज लोगों के कुल 72 लोगों के साथ मैदान करबला में फरात नहर के किनारे भुख और प्यास के हालत में बेद्दी के साथ मौत के घाट उतार दिया यही तलवार बाद में मजहब के नाम पर खुन–खराबा अब तक न बंद हो सका और यह खून की प्यासी तलवार मजहवी नफरत/भेद भाव के कारण शांत न हो सकी। इसके साथ ही इस विषय के दूसरे पहलू गौर करे–हिन्दू समाज के अन्दर व्याप्त भेदभाव, वर्गविद्वेष के कारण ही भावना से ग्रसित व कुंठित हिंदुस्तानी मुस्लिम समाज को धर्म परिवर्तन के बाद अस्तित्व में आया था के मंन मे नफरत का बीज अंकुरित

होकर मजबूत होने लगा था जिसका आभास कर विवेकानन्द जी महाराज ने अपने जीवन काल में हिन्दु समाज को सचेत करते हुए कहा था 'म्लेच्छ तथा यवन ये दोंनो शब्द घृणा तथा दम्भ के द्योतक है और हिन्दु भाव धारा के साथ बिल्कुल मेल नही खाते। वैसे प्रारम्भ में इन दोनो शब्दों के अर्थ निर्दोष थे परन्तु सम्भवतः किसी अध्यात्मिक अवसाद के युग में इन शब्दों के साथ विजातियों के प्रति घृणा तथा तुच्छता का भाव जुड़कर उनके अनुचित अर्थ प्रचलित हो गयें। जो हिन्दू सभी प्राणियों में आत्मा को और आत्मा में सभी प्राणियों को देखा करते थें उन्हीं के आदर्शच्युत वंशधार इन दोनों शब्दों का दुरूपयोग करके अपने गर्व से खुले हुए संकीर्ण तथा स्थूल बुद्धि का परिचय दे रहे है। आशा है कि निकट भविष्य में हिन्दू नर–नारी बुरे अर्थो से दूषित म्लेच्छ तथा यावन इन दोनों शब्दों को त्यागकर प्रत्येक व्यक्ति को नारायण बोध से श्रद्धा करना सीखेंगे। लेकिन हिन्दू समाज ने स्वामी जी की इस चेतावनी को गंभीरता से नही लिया जिसके भी गंभीर परिणाम हुए अक्टूबर 1956 में एक वर्ग डॉ0 अम्बेडकर की अगुवायी में धर्म परिवर्तन कर बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया, कुछ ने ईसाई धर्म' भी स्वीकार कर लिया। हिन्दुस्तान–पाकिस्तान के रूप में देश विभाजन के लिए भी यही भावना ज्यादा असर कारक साबित हुई। इन दोनों घटनाओं के लिए ऐतिहासिक सूत्रों में आधार पर कहा जा सकता है कि डॉ0 अम्बेडकर और मो0 अली जिन्ना की तुलना में महात्मा गांधी कहीं ज्यादा जिम्मेदार थे। देखने में तो लगता था कि गांधी जी भारत विभाजन के खिलाफ थे, लेकिन उनकी सोच उनकी कार्यशैली बिल्कुल देश विभाजन के पक्ष में थी। उनकी वेशभूषा, रहन–सहन, पूजा, प्रार्थना, उनका आश्रम उनका व्यवहार उनके कट्टर हिन्दू होने का प्रदर्शन कर रहा था। यह कटु सत्य है कि महात्मा गांधी जितने कट्टर हिन्दू थे उन अर्थों में मिस्टर जिन्ना कट्टर मुसलमान भी न थे, कट्टर मुसलमान होना तो बड़ी अलग बात है। हिन्दू–मुस्लिम भाई–भाई का नारा विचारपूर्ण नहीं था जिसके जनक गांधी जी थे। ''ईश्वर अल्लाह तेरे नाम'' इसे न हिन्दू स्वीकार कर सका न मुस्लिम। यह नारे दोनों वर्गों को धोखा देने वाले प्रतीत हुए। यह नारा जितना जोर पकड़ता रहा हिन्दू मुस्लिम में दूरियां बढ़ती गयी। मुस्लिम वर्ग सशंकित हो गया कि यदि आजाद भारत की सरकार महात्मा गांधी की अगुवायी/निर्देश में बनती है तो हिन्दू संस्कृति पर आधारित होगी जो इस्लाम और उसके अनुयाइयों के लिए खतरनाक साबित होगी। पारिवारिक सम्पत्ति का बंटवारा भाईयों के बीच होना सामान्य बात है, लेकिन दो भाईयों (हिन्दू–मुस्लिम) के बीच किसी देश का बंटवारा मेज पर नक्शा बिछाकर अगस्त 1945 की पहली ऐतिहासिक घटना थी लेकिन हिन्दू–मुस्लिम भाई–भाई को सिद्ध होना ही देश विभाजन का कारण बन गया। देश विभाजन के बाद हिन्दूस्तान का मुस्लिम वर्ग गांधी जी का बराबर सम्मान करता है, लेकिन कट्टर हिन्दू समाज और उससे अलग होकर बौद्धिष्ट बना समाज आज भी गांधी जी को अच्छे शब्दों में याद नहीं करता है। और यही भावना महात्मा गांधी की असमय हुई दर्दनाक हत्या का कारण बनी।

06 दिसम्बर, 1992 को अयोध्या में जिस इमारत को उग्र भीड़ द्वारा धराशायी कर दिया जिस पर अधिकार सम्बन्धी विवाद भारत की उच्च न्यायालय में विचाराधीन था। जिसकी हिफाजत के लिए प्रदेश के मुख्यमंत्री ने उच्च न्यायालय में शपथ–पत्र प्रस्तुत कर वचन दिया। ऐसी ऐतिहासिक शर्मनाक घटना पर अफसोस जताने के बजाय एक वर्ग इस दिन को विजय दिवस व ''शौर्य दिवस'' के रूप में मनाने को उत्सुक है। इस विवाद ने विभिन्न रूपों में भारत देश को कितनी क्षति पहुंचायी है प्रत्येक बुद्धिजीवी भलीभांति आकलन कर सकता। अब रामसेतु नाम से भी एक समस्या पैदा की जा रही है, आखिर इस सोच के पीछे किस मजहब की भावधारा काम कर रही है।

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की नृशंस हत्या ईसाई मिशनरी ग्राह्म स्टेंस तथा उसके मासूम बच्चों को आग से जलाकर मार डालने जैसी क्रूर घटनाओं जैसी अन्य तमाम घटनाओं को अंजाम देने वालें तो इस्लाम के अनुयायी न थे। इनकी प्रेरणा स्त्रोत क्या है? विचारणीय पहलू है।

मौजूदा समय में ऐसे घटनाओं के लिए हिन्दू/मुस्लिम नहीं बल्कि देश के प्रबुद्धजन और उनके द्वारा चुनी हुई सरकारें और उनकी शासन व्यवस्था जिम्मेदार है। हमारे नेताओं में आत्मबल की कमी तुष्टीकरण की नीति और आम जनमानस की स्वार्थी प्रवृत्ति आदि कारण देश में फैले आतंकवाद के लिए जिम्मेदार है। भारत ही नहीं विश्व के नेताओं का उद्देश्य मात्र सत्ता का सुख भोगना है, चुनौतीपूर्ण स्थितियों का सामना करना नहीं।

आचार्य पंकज जी के लेख पर अपनी राय प्रेषित है। इस सम्बन्ध में आचार्य पंकज जी भी एवं आपकी प्रतिक्रिया जानने को इच्छुक हूँ। आप दोनों महानुभावों एवं समस्त ज्ञानतत्व परिवार को सादर प्रणाम।